सभ्यता फिर भी उम्मीद से है

प्रफुल्ल कोलख्यान

अपनी पुरानी फिल्मों में एक दृश्य अक्सर आया करता था। प्रारंभ में ही उस दृश्य को याद कर लेना जरूरी है। दृश्य यह कि महराज अपने किसी उच्चाधिकारी की बदगुमानी पर भड़क उठते हैं। गिरफ्तारी और राजदंड की धमकी देते हैं। बदगुमानी कम होने के बदले और बढ़ ही जाती है। महराज गुस्ताख को गिरफ्तार करने का हुक्म देते हैं। आश्चर्य, कि प्रहरी अपनी जगह से हिलते भी नहीं हैं। दर्शक अपना धड़कता हुआ दिल थामे बैठे रहते हैं। इस बीच, वह अधिकारी मुस्कुराते हुए महराज को बड़े आदर से बताता है कि सारे सिपाही अब उसके इशारे के मोहताज हैं। उनकी वफादारी बिक चुकी है। सारे सिपाही सिर झुकाये खड़े हैं। स्थिति से भौंचक्क महराज अपने ही सिपाहियों के द्वारा गिरफ्तार कर लिये जाते हैं। दृश्य दर्शकों के मन को एक झटका देता है और कहानी आगे बढ़ जाती है।

वफादारियों के बिकने के मौसम में आज जीवन के सारे तत्त्व पण्य बनाये जा रहे हैं। इसकी स्वाभाविक परिणति है कि दुनिया बाजार बन रही है। बाजार भी साधारण नहीं, माया-बाजार, तिलस्म, रहस्य और रोमांच की अनंत गुंजाइशों को अपने अंदर जिलाये रखनेवाला बाजार। वे दिन गये जब लोग स्वर सम्राट कुंदनलाल सहगल की आवाज में अपना दर्द मिलाकर याद कर लिया करते थे कि खरीददार नहीं हूँ! तब, जरूरी नहीं कि बाजार से गुजरनेवाला हर आदमी खरीददार हो ही! आज बाजार में खरीददार बनकर घूमने का समय है। खरीददार भी साधारण नहीं, अपनी क्षमता से कई-कई गुना अधिक की खरीददारी के लालच और दुस्साहस से लबालब खरीददार! विवशता यह कि कुछ खरीदना हो तो, कुछ बेचना भी पड़ता है। ऐसे खरीददारों के सपनों की सरहद पर एक और बाजार होता है---- 'लो न!' की गुहार लगाता हुआ 'लोन बाजार'। दरअसल, इस लोन बाजार में विभिन्न प्रकार के लोन उपलब्ध होते हैं। इन विभिन्न प्रकार के लोनों को बाजार की भाषा में 'प्रोडक्ट' कहा

जाता है। खाली दिमाग, खाली जेब और खाली झोली लिये लोग और राष्ट्र अपने भविष्य को बेचकर इन 'लोन प्रोडक्टों' को खरीदा करते हैं।

इस मायावी बाजार में कब किसकी निष्ठा, कब किसका दीन और ईमान बिक जाये, विवेक बिक जाये किसे पता! ऐसे माया बाजार में बेचने और खरीदने से इन्कार करनेवाले के पास गज भर का सीना होना चाहिए। अब गज भर के सीने का मुहावरा प्रचलन से बाहर है। न हो गज भर का सीना न सही लेकिन, चाहे जिस किसी तरकीब से, जिस चीज को बिकने से बचाने की जरूरत है उसका नाम है विवेक। विवेक यह कि क्या बेचूँ और क्या खरीदूँ। विवेक यह कि क्या बेचकर क्या खरीदना फायदे का सौदा होता है और क्या बेचकर क्या खरीदना घर का आटा गीला करना होता है। बाजार का सोन हिरना इस विवेक को बहुत लुभाता है, अपने 'पवित्र वन के अनंत' में भटकाता है और अंतत: उसका सत्व हर लेता है। बेचनेवाले को यह पता भी नहीं होता है कि वह जो बेच आया है, उस तत्त्व का नाम क्या है, उस तत्त्व की तासीर क्या है। 'तासीर' का पता तो आनेवाले दिन में लगता है। 'तासीर' यह कि जीवन का हर क्षण अंतिम बनकर आता है। वर्त्तमान के पैर के नीचे न तो इतिहास की जमीन होती है, न कंधे पर भविष्य का आकाश होता है। वर्त्तमान के पैर के नीचे अतीत का दलदल और कंधे पर भविष्य का शव होता है। इस स्थिति के औचित्य प्रतिपादन की सिद्धांतिकी उत्तर-आधुनिक सूत्रों से तैयार होती है। इस सिद्धांतिकी में बाजार के 'पवित्र वन के भटकाव' को जीवन की रीति बनाने का और इस रीति के अनुसार जीवन को अनुकूलित करने की मुकम्म्ल 'प्रोग्रामिंग' होती है। अनुकूलन की यह प्रक्रिया जीवन में घर कर रही ऐसी रीति को संस्कृति बनाती है। इसे बाजारवाद की संस्कृति कहते हैं। बाजारवाद का उत्तर-आधुनिक औजार संस्कृति के निहितार्थों को बदल देता है। शब्द वही, लेकिन उसमें बदले हुए अर्थ का सदावास। बाजारवाद अपनी इस संस्कृति की ओट में अपना जाल फैलाता है, दाना डालता है। इस संस्कृति की माया ऐसी कि इस में दाना दिखता है, जाल नहीं दिखता है। लाभ के लोभ से लबालब ज्ञानी-अज्ञानी उसमें फँसते जाते हैं। जब तक अपने फँस जाने का एहसास होता तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। ऐसे में संस्कृत की वह मरी हुई कहानी याद आती है जिसमें ऐसे सारे पक्षी जाल लेकर उड़ जाते हैं। उस कहानी में जाल बाहर फैला होता है, अभी की स्थिति यह है कि जाल हमारे अंदर फैला हुआ है। बाजारवाद मछली के ही तेल में मछली को भुनने की कारीगरी जानता है। मकरजाल की तरह 'मनुख-जाल' उपभोक्ता मन के भीतर से पैदा होता है। बाजारवाद में संस्कृति उद्योग है। उथला मनोरंजन इस उद्योग का प्रमुख तत्त्व है। यह मनोरंजन तत्काल का चारण और महकाल का विदूषक है। बाजारवाद की मनोरंजक संस्कृति हँसते-हँसाते मनुष्य की प्रतिरोध क्षमता का आखेट कर लेती है, समर्पण और शरणागति को शौर्य की शर्त्त बनाती है। बाजारवाद के मायालोक में सांस्कृतिक तत्त्वों के निहितार्थों की निष्ठा बदल जाती है। मानवीय संस्कृति सांस्कृतिक

तत्त्वों के छल का शिकार बनती है। इस छल-संस्कृति में नायक और खलनायक मिलकर छलनायक बन जाते हैं।

यह सच है कि बाजार सभ्यता के विकास के साथ ही अस्तित्व में आ गया था। बाजार नाम की संस्था ने मनुष्य जाति के विकास में बड़ी भूमिका अदा की है। इसलिए बाजार का विरोध भी नहीं था। आज भी बाजार का विरोध नहीं है। विरोध बाजारवाद का है। बाजारवाद की छल-संस्कृति 'फ्रैंडली फायर' और 'कोलेटरल डैमेज' जैसे विरोधी अर्थों को एक शब्द-युगम में नत्थीकर उनमें नये निहितार्थ का संपुट करती है। बाजारवाद कभी नये शब्दों को उछालता है तो कभी प्रचलित शब्दों को जस का तस रखते हुए उसकी मूल संकल्पना को भीतर से बदल देता है। इस बदली हुई संकल्पना से अर्थ का विकल्प रचा जाता है। वैकल्पिक अर्थ के स्थिर और स्वीकार्य होने की जाँच काम चलता रहता है। हाल ही में इस तरह की जाँच का अभियान 'वाशिंगटन पोस्ट' ने चलाया था। उसने अपने पाठकों से शब्दों के वैकल्पिक अर्थ के बारे में सुझाव माँगा था। 'बाजारवाद' के आगमन के पहले कौन कह सकता था कि 'मुक्ति' और 'जनतंत्र' का यह अर्थ भी हो सकता है जिस अर्थ में अमेरीकी प्रशासन ने अफगानिस्तान और इराक में उसका इस्तेमाल किया है! 'लिबरलेजाइशन' या 'उदारीकरण' का ऐसा अर्थ भी हो सकता है, किसने सोचा था!

सभ्यता और संस्कृति प्रवाह में शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। भाषाविज्ञान में अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थांतर और अर्थादेश के अध्ययन के लिए स्वतंत्र अध्याय होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का विशद विवेचन है। भाषा पर सामाजिक संप्रभुत्व अब तक असंदिग्ध रहा है। राज-सत्ता ने हमेशा उस पर कब्जा करने की भी कोशिश की है। भाषाओं के विकास का इतिहास गवाह है कि ऐसी सूरत में सत्ता की भाषा को छोड़कर समाज ने जनपदीय भाषाओं को किस तरह अपनाया। महावीर और बुद्ध के द्वारा संस्कृत से हटकर प्राकृत और पालि को अपनाने के पहले उनके समाज ने ऐसा किया। उस समाज में संस्कृत के 'भद्र' का विकसित रूप 'भद्दा' हो गया! आज भाषा पर सामाज की संप्रभुता को निरर्थक बनाकर 'बाजारवाद' भाषा पर बाजार का संप्रभुत्व स्थापित कर रहा है। पुराने शब्दों में नये और विपरीत अर्थों की तानातानी होने पर बौद्धिक विमर्श में 'तर्क की ताकत' कम होती है और 'ताकत का तर्क' अधिक प्रभावी होता है। वाद-विवाद तो खूब होते हैं, लेकिन संवाद नहीं बनता है। जाहिर है कि संवाद न बनने की स्थिति में सहमति भी नहीं बनती है। ध्यान में रखना जरूरी है कि 'संवाद' और 'सहमति' जनतंत्र के प्राण हैं। जैसे-जैसे 'संवाद' और 'सहमति' की संभावनाएँ नष्ट होती जाती है वेसे-वैसे जनतंत्र निष्प्राण होता जता है। 'जनतंत्र' शब्द तो रह जाता है

लेकिन उसका अर्थ बदल जाता है। जनतंत्र का कारोबार शक्ति से नहीं सहकार से चलता है। बदले हुए अर्थ में सहकार का जनतंत्र विघटित होकर शक्ति का जनतंत्र बन जाता है। अपने बदले हुए अर्थ में 'बाजारवाद का जनतंत्र' शक्ति का जनतंत्र होता है। 'बाजारवाद' के 'जनतंत्र' में लोगों का लोगों से अनुराग कम होता है। वस्तुओं से अनुराग बढ़ता है। वस्तुओं को मनुष्य का सम्मान और मनुष्य को वस्तुओं का दर्जा मिलता है। राज्य 'बाजारवाद' के सबसे कारगर उपकरण के रूप में बदल जाता है। राज्य नागरिकों से नहीं, उपभोक्ताओं से अपनी पहचान बढ़ाता है। ऐसे में प्रतिरोध या किसी भी प्रतिविचार को निर्ममतापूर्वक छिन्न-भिन्न कर देना शक्ति के जनतंत्र के बाएँ हाथ का खेल रह जाता है। बाजारवाद की सम्मोहक हवा मनुष्य को मकतल की दिशा में बढ़ते जाने के लिए तरह-तरह से अभिप्रेरित करती है। हत्या और आत्महत्या की गहरी घाटी से गुजरते हुए मनुष्य अपने अकेलेपन में एक ऐसी आभासी दुनिया के हवाले हो जाता है, जिसमें सच का झूठ से और अमृत का विष से अदृश्य रणनीतिक गठबंधन होता है। मानवीय हितों का अधिकांश साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से नत्थी हो जाता है। त्याग, क्षमा, धृति, करुणा, परदुख कातरता, समता और स्वतंत्रता जैसे संचित मूल्य हास्यास्पद बना दिये जाते हैं। आधुनिकता और प्रगतिशीलता की असमाप्य परियोजनाएँ अपने प्राणघाती स्थगन के दौर में पहुँच जाती हैं।

जीवन को मनोरम बनानेवाले तत्त्वों के प्राणघाती दौर को ठीक से समझने की कोशिश में एक बात सहज ही समझ में आती है कि आज का समय 'बाजारवाद' और 'जनतंत्र' के संघर्ष का समय है। इस संघर्ष की आत्मा को समझने के लिए 'बाजारवाद' और बाजार के अंतर को ध्यान में रखना जरूरी है। 'बाजारवाद' साम्राज्यवादी आकांक्षा को पूरा करने के कूट विचारों के समुच्चय से बना नई गुलामी का औजार है और बाजार जीवन के लिए जरूरी विनिमय का आधार। 'बाजारवाद' के प्रहार से बचने के लिए 'बाजार' और 'जनतंत्र' के साझा हित की समझ और उनके समन्वय का होना जरूरी है। आज 'जीवनोपयेगी बाजार' और 'सच्चे जनतंत्र' के समवाय की जरूरत है। 'बाजारवाद' इनमें विरोध का संबंध विकसित करता है। 'बाजारवाद' अपने किसी भी विरोध को 'बाजार के विरोध' के रूप में प्रचारित करता है। यह 'बाजारवाद' का प्रपंच है। इस प्रपंच के विस्तार में विषमता की कठोर जमीन पर कभी पैर नहीं रखनेवाली समता की सीता को पराधीनताओं के अ-शोकवन में घसीटा जा रहा है। अफसोस यह कि सीता को दुख अपहरण करनेवाले से ही नहीं वरण करनेवाले से भी मिलता आया है। खंडित स्वप्न का समय हाहाकार को जयकार मान लेने का कठविवेक विकसित करता है।

खंडित स्वप्न के समय के दुख को समझना जरूरी है। जब बड़ा वैश्विक सपना घायल होता है, तब सामाजिक जीवन के बहुत सारे छोटे-छोटे सपनों का दम अपने-आप घुटने लगता है। बीसवीं सदी में देखा गया मानवीय इतिहास का सबसे बड़ा वैश्विक सपना घायल जटायु की तरह आहत होकर समता की सीता के अपहरण का दृश्य दखने की त्रासदी से गुजर रहा है और उन्नत तकनीक से समृद्ध साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ बेखौफ होकर दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने की साजिश रच रही है। पाश की कविता बताती है कि, 'सबसे खतरनाक होता है/ मुर्दा शांति से भर जाना/ न होना तड़प का सब सहन कर जाना/ घर से निकलना काम पर/ और काम से लौटकर घर जाना/ सबसे खतरनाक होता है/ हमारे सपनों का मर जाना'। सोचना जरूरी है कि 'बिना तड़प के सब सहन करते जाने' और 'घर से निकलना काम पर और काम से लौटकर घर जाने' की चिंता में घुटना जारी रखकर सपनों को मरते हुए हमारी दुनिया कब तक देखती रहेगी! निश्शब्द! नागार्जुन के सपना देखने की पुलक को अपने अंदर महसूस करते हुए फिर से उस चंदू की तलाश करनी होगी जिससे बेखौफ होकर कहा जा सके कि सपने अभी मरे नहीं हैं। लालच और दुस्साहस के उस पार एक दुनिया ओझल हो रही है। इस ओझल होती जा रही दुनिया की आँख में उम्मीद के सपने आज भी मुस्कुराते हैं। उम्मीद बचाना जरूरी है कि सपने बचे रहेंगे तो एक दिन चंदू भी मिल जायेगा। इस उम्मीद को नहीं बचाया जा सका तो मनुष्य की मुक्ति का सपना निष्ठा बेचकर नमक खरीदनेवाले अपने वीर वफादारों के हाथों गिरफ्तार हो जायेगा। यकीनन, सभ्यता फिर भी उम्मीद से है।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान